बोन्साय संस्कृति

रवींद्र केलेकर

कोंकणी के महान साहित्यकार रवींद्र केलेकर ने यह वक्तव्य 31 जुलाई, 2010 को पणजी, गोवा में बयालीसवाँ ज्ञानपीठ पुरस्कार ग्रहण करते समय हिंदी में दिया था।

मुझे इस बात की बड़ी ख़ुशी है, कि कोंकणी को देश का यह सर्वोच्च साहित्यिक ज्ञानपीठ पुरस्कार अपनी माँ संस्कृत के साथ मिल रहा है। कुछ साल पहले साहित्य अकादेमी की महत्तर सदस्यता यानी फ़ेलोशिप दी गयी थी जो साहित्यकारों की दुनिया का एक बड़ा गौरव माना जाता है। दोनों संस्थाओं ने मुझे इस क़ाबिल समझा इसके लिए दोनों के सभी सदस्यों का हृदयपूर्वक आभार मानना मेरा परम कर्तव्य है।

'बहुत बहुत शुक्रिया!'

एक महत्त्व की बात मैं आपको बताना चाहता हूँ कि यह सम्मान एक ऐसे लेखक को दिया गया है, जिसकी भाषा को कल परसों तक बड़े-बड़े लोग भाषा ही मानने के लिए तैयार नहीं थे। इसकी लिपि नहीं है, व्याकरण नहीं है, इसमें साहित्य नहीं है कह कर ख़ुद यह भाषा बोलने वाले भी उसका उपहास किया करते थे। यह भाषा अगर आज अकादेमी की महत्तर सदस्यता और ज्ञानपीठ जैसा सम्मान पा सकी है, तो उसका सारा श्रेय उन लोगों को जाता है, जो भाषा को 'भाषा' बनाने के लिए पिछले पचास-साठ सालों से लगातार तीव्र संघर्ष करते आये हैं। उनका स्मरण करना मेरा एक बड़ा कर्तव्य है। बड़ी नम्रता के साथ मैं उन सभी ज्ञात-अज्ञात संघर्षकर्ताओं को अभिवादन करके उनकी उपलब्धि के लिए उन्हें बधाई देना चाहता हूँ।

साहित्य अकादेमी की स्थापना हुई तब— भारतीय साहित्य की व्याख्या यों की गयी थी— भारतीय साहित्य एक है, हालाँकि वह अनेक भाषाओं में लिखा जाता है। इण्डियन लिटरेचर इज़ वन दो रिटिन इन सेवरल लेंग्वेजेज़। इसका मतलब यह है कि हम भले ही अपनी-अपनी भाषाओं में लिखते रहें, हम महज उस भाषा के लेखक नहीं है। बल्कि हम भारतीय लेखक हैं।

आत्मसंतोष के लिए यह टॉनिक अच्छा है। मगर यह आत्मसंतोष हमें अक्सर भुलावे में डालता आया है। खुली आँखों से जब हक़ीक़त की ओर हम देखेंगे तब हमारा दिल बैठ जाएगा। अगर हम

इतने बड़े देश के लेखक हैं, तो बताइए, हमारी पुस्तकें इस देश में कौन पढ़ते हैं? कितने लोग पढ़ते हैं?

पिछले पचीस-तीस सालों में कोंकणी में मेरी ह्र]रीब पच्चीस पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। ज़्यादातर पुस्तकों का पहला संस्करण एक हज़ार प्रतियों का निकला था। हमने देखा कि एक हज़ार प्रतियाँ समाप्त होने के लिए क़रीब दस साल लग जाते हैं। तुरंत दूसरा संस्करण निकालने की हमारी हिम्मत ही नहीं पड़ती। कम-से-कम बीस साल तक इंतज़ार करना पड़ता है।

कोंकणी तो छोटी भाषाओं में से एक है। हिंदी? वह तो सबसे बड़ी भाषा है न? देश की राष्ट्र-भाषा भी है। राष्ट्र-भाषा अगर न होती तो भी वह पंजाब, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, राजस्थान, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, बिहार के लोगों की भाषा है न? इतने बड़े क्षेत्र की भाषा की किसी भी पुस्तक का पहला संस्करण कम-से-कम एक लाख प्रतियाँ तो छपना चाहिए था। कितनी प्रतियों का छपता है? कोंकणी की मेरी *ओथांबे* पुस्तक का हिंदी में अनुवाद हुआ है। *पतझर में टूटी पत्तियाँ* के नाम से प्रकाशित हुआ है। प्रकाशन भी कोई मामूली प्रकाशक ने नहीं बल्कि ज्ञानपीठ जैसी एक बड़ी संस्था ने किया है। उसके ब्लर्ब पर 'कोंकणी की यह एक अद्भुत रचना है' बताया गया है। प्रतियाँ कितनी छपी हैं? सिर्फ़ एक हज़ार!

अंग्रेज़ी ने हमारे देश में कई बोन्साय विद्वान, बोन्साय बुद्धिजीवी, बोन्साय लेखक और अब तो बोन्साय पाठक भी निर्मित किये हैं। परिसंवादों की शोभा बढ़ाने के काम आते हैं। ठोस कुछ भी नहीं दे सकते। क्या हम देश को बोन्साय लोगों का होने देंगे?

इस हालत की वज़ह ढूँढ़ने की कोशिश करता हूँ तब मुझे सभी देशी भाषाओं के सिर पर एक काला बादल मँडराता हुआ दिख पड़ता है— भारत नामक इस 'सार्वभौम प्रजासत्ताक' देश में अंग्रेज़ी की प्रधानता का। इस आज़ाद देश का राजकारोबार अंग्रेज़ी में चलता है। क़ानून अंग्रेज़ी में बनाये जाते हैं। न्यायदान अंग्रेज़ी में चलता है। लिहाज़ा बड़ी-बड़ी नौकरियाँ अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे लोगों को ही मिलती हैं। यही नहीं, अंग्रेज़ी हमें 'स्टेटस' भी देती रही है।

ऐसे हालात में आप मातृभाषाओं के चाहे जितने महिमास्तोत्र गाते रहिए, किसी पर भी उसका असर होने वाला नहीं है। लोग दिन-ब-दिन अंग्रेज़ीदाँ ही बनते रहेंगे। इस हालत में देशी साहित्य कतई नहीं पनप सकता। कोई 'पढ़ा-लिखा' आदमी हमारी पुस्तकें नहीं पढ़ेगा। अंग्रेज़ी पुस्तकें ही पढ़ता रहेगा।

मैं यह कहना नहीं चाहता कि अंग्रेज़ी के ज्ञान की हमें आवश्यकता नहीं है। है, अवश्य है। सिर्फ़ इसलिए कि वह हमें विश्व-साहित्य के सम्पर्क में रखती है। मगर कितने लोगों को इस भाषा का ज्ञान होना चाहिए? देश के सौ फ़ीसदी लोगों को? नामुमकिन है। देश के विकास के लिए तो हरगिज़ नहीं। यह सारे क्षेत्र देशी भाषाओं के हैं। जर्मनी, फ्रांस, जापान, चीन, रूस जैसे देश अपनी-अपनी भाषाओं में राज कारोबार चलाते हैं, विकास कर सकते हैं, तो क्या हम नहीं कर सकते?

हम चाहे जितने अंग्रेज़ीजाँ बनने की कोशिश करें, कभी भी अमेरिकी, अंग्रेज़ नहीं बन पाएँगे। अंतर्राष्ट्रीय तो बिलकुल नहीं। सिर्फ़ अपनी भूमि से उखड़े हुए अपरूटेड होंगे। आउट ऑफ़ प्लेस एवरीव्हेयर, ऐट होम नोव्हेयर। न घर के न घाट के।

अंग्रेज़ी की कई परिसीमाएँ हैं। वह हमें दुनिया के साथ जोड़ती तो है, पर अपने लोगों से तोड़ती

भी है। अध्यात्म की दुनिया में अनपढ़ श्रीरामकृष्ण देश के कोने-कोने में पहुँच सके हैं। साईंबाबा भी पहुँच चुके हैं। मगर शंकराचार्य के बाद जिन्होंने भारतीय तत्त्व विचार में मौलिक योगदान दिया ऐसे देश के दो महापुरुष— श्री अरविंदो और जे. कृष्णमूर्ति महज आलसी फ़ैशनेबिल, निकम्मे अंग्रेज़ीदाँ लोगों के बीच ही फँसे रहे। राजनीति के क्षेत्र में एम.एन. रॉय मामूली व्यक्ति नहीं थे। एक तगड़ी शख़्सियत थे। क्रांतिकारी थे, एक मौलिक चिंतक भी थे। मौक्सिको की क्रांति के एक अग्रदूत थे और लेनिन के दाहिने हाथ थे। देश की कोई भाषा जानते नहीं थे। यहाँ तक कि अपनी जन्मभाषा बांग्ला भी भूल गये थे। देश के स्वतंत्रता संग्राम में हिस्सा लेने के लिए आये थे। मगर लोगों के साथ बिलकुल घुलमिल न सके— मुम्बई और कोलकाता विश्वविद्यालयों के कुछ प्राध्यापकों के और बुद्धिजीवियों के दायरे में ही फँसे रहे।

जड़ें काट कर बड़े-बड़े वृक्षों को बौना बनाने की एक कला जापानियों ने विकसित की है। नारियल का पेड़ जो गगन को छूने के लिए ऊपर तक जाता है उसे सिर्फ़ पाँच फुट ऊँचा इस कला के द्वारा बनाया गया मैंने देखा है। बड़ा ही सुंदर दिखाई देता है। मगर वह नारियल नहीं दे पाता, दीवानख़ाने की शोभा बढ़ाने के ही काम आता है। इस कला को बोन्साय कला कहते हैं। अंग्रेज़ी ने हमारे देश में कई बोन्साय विद्वान, बोन्साय बुद्धिजीवी, बोन्साय लेखक और अब तो बोन्साय पाठक भी निर्मित किये हैंजो परिसंवादों की शोभा बढ़ाने के काम आते हैं। ठोस कुछ भी नहीं दे सकते। क्या हम देश को बोन्साय लोगों का होने देंगे? हमें यह भूलना नहीं चाहिए कि भगवान की सृष्टि से बढ़िया प्रति-सृष्टि निर्माण करने की ताक़त रखने वाले विश्वामित्र जैसे ऋषि इस देश में पैदा हुए हैं। उसे क्या हम बोन्साय लोगों का देश बनने देंगे? नहीं न? तो फिर देश में अंग्रेज़ी की जो प्रबलता है उसके ख़िलाफ़ विद्रोह करना निहायत ज़रूरी हो गया है। कौन करेगा यह विद्रोह? कोई राजनीतिक नेता? एक नरशार्दूल था, जिसने, यह विद्रोह शुरू किया था— डॉ. लोहिया। अचानक ही चल बसे। अब? मेरी दृष्टि देशी साहित्यकारों की ओर जाती है। विक्टर ह्यूगो बड़े गर्व के साथ कहा करता था— इटली ने रिनेसाँ का आंदोलन चलाया। जर्मनी ने रिफ़ॉर्मेशन का चलाया और युरोप बदला। फ्रांस ने सिर्फ़ एक वॉल्तेयर पैदा किया। उसने रिनेसाँ, रिफ़ॉर्मेशन के साथ-साथ आधा रेवोल्यूशन चलाया और न सिर्फ़ फ्रांस की बल्कि पूरे युरोप की शक़्ल सूरत ही बदल डाली। ऐसा कोई एक वॉल्तेयर देश की किसी एक भाषा में पैदा होगा, तभी— आज की हालत जड़मूल से बदल पाएगी।

इन शब्दों के साथ मैं ज्ञानपीठ पुरस्कार को बड़ी नम्रता से स्वीकार कर रहा हूँ।